ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 8.4
IJAR 2023; 9(1): 396-398
www.allresearchjournal.com
Received: 13-11-2022
Accepted: 17-12-2022

डॉ० अभिमन्यु कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह महाविद्यालय, सरिसब–पाही, मधुबनी, बिहार, भारत

Corresponding Author:
डॉ० अभिमन्यु कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह महाविद्यालय, सरिसब–पाही, मधुबनी, बिहार, भारत

भूमंडलीकरण और दलित अस्मिता

डॉ० अभिमन्यु कुमार

प्रस्तावना

विदेशी पूँजी, प्रौद्योगिकी, संचार क्रांति, उपभोक्तावाद और अमेरिकीकरण ने मिलकर भारत में जो समा बांधा है; क्या इसमें दलित–मुक्ति की कोई गुंजाइश दिखाई देती है; क्या दलितों को नये मौके मिलेंगे; क्या दलितों की स्थिति में पहले की अपेक्षा कुछ सुधार हो पाएगा; या उनकी हालत बद से बदतर ही होती चली जाएगी। ऐसे ही कुछ सवाल हैं जो दलित और भूमंडलीकरण के प्रश्न को जोड़कर देखने से हमारे जेहन में उभरते हैं। विचारकों के बीच भी उपयुक्त प्रश्न को लेकर एक जैसा नज़रिया नहीं है। इसलिए यहाँ कुछ चिंतकों की राय पर गौर फरमाना लाज़िमी लगता है। दलित प्रश्न को भूमंडलीकरण के साथ जोड़कर देखने की शुरूआती कोशिश 'गेल ऑम्वेट' से मानी जाती है। दलित आंदोलन पर प्रभावशाली लेखन के लिए विख्यात गेल भूमंडलीकरण को दलितों के लिए आवश्यक मानती हैं। उनके अनुसार बाज़ारीकरण की प्रक्रिया में दलितों को नये मौके मिलेंगे। गेल बाज़ार और विदेशी पूँजी को दलितों के लिए एक आवश्यक संभावना के रूप में देखती हैं। दलितों को रास्ता दिखाते हुए वे कहती हैं कि, हाशिये के इन लोगों को सरकारी तंत्र पर निर्भर न रह कर खुले प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण से लाभ उठाने के लिए आगे आना चाहिए। बाज़ार के चरित्र को गेल ब्राह्मणवाद विरोधी मानती हैं। वे कहती हैं कि पूरे सरकारी तंत्र पर यानी लाइसेंस–कोटा–परमिट राज पर ब्राह्मणवाद का कब्जा रहा है। इसलिए भूमंडलीकरण से दलितों को नये–नये अवसर मुहैया होंगे। गेल को उन लोगों से समस्या है जो उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण का विरोधा करते हैं लेकिन ऐसा करते समय उनके पास कोई पुख्ता सबूत नहीं होता। उनके अनुसार अधिकांश लोग भूमंडलीकरण के विरोधा में अप्रमाणिक बातें करते हैं जो सामान्यतया विरोधाभासी होता है। वे इसके लिए उदाहरण भी देती हैं– ''जब सुनाई देता है कि बाज़ार का वर्चस्व चौतरफा हो गया है (जिसे वे खतरे के रूप में देखते हैं) और इससे वंचित आम आदमी की संख्या में इजाफा हो रहा है, जिस कारण गरीबी बढ़ रही है। लेकिन इस तरह का दो बयान विरोधाभासी है। बाज़ार में इजाफा का मतलब है कि लोगों के खरीदने की शक्ति कुछ मायनों में बढ़ रही है। लोगों को पर्याप्त रोजगार का अवसर मिलता है जिससे बाजार में आने वाली वस्तुओं को खरीदने में वे सक्षम होते हैं। अन्यथा, अगर गरीबी, बेरोज़गारी आदि में सचमुच इजाफा होता तो बाज़ार सीमित हो जाते।''[1] वह मार्क्सवादियों की भी आलोचना करती हैं। गेल के मुताबिक मार्क्सवादी सिर्फ भूमंडलीकरण का विरोधा करते हैं लेकिन दलितों के लिए कोई विकल्प नहीं सुझाते। वे भोपाल घोषणापत्र और चंद्रभान प्रसाद द्वारा दलित पूँजीपतियों की बात का यह कहकर विरोधा करते हैं कि भूमंडलीकरण मात्र दलितों के लिए छलावा है। गेल के अनुसार वामपंथियों का यह तर्क दलितों को किसी समर्थन या कोई विकल्प दिखाने के बजाए जंगल में जाकर हथियार थामने के लिए मजबूर करेगा। इसलिए गेल दलितों को सुझाव देती हैं कि उन्हें सरकारी रियायतों का मोहताज होने की अपेक्षा भूमंडलीकरण के प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण का लाभ उठाने के लिए आगे आना चाहिए। भूमंडलीकरण के एक प्रमुख पैरोकार के रूप में चन्द्रभान प्रसाद का नाम लिया जा सकता है जो प्रबुद्ध दलित पत्राकार भी हैं। वे कहते हैं कि उद्योगपति एक साथ दो काम करते हैं– माल का उत्पादन और उस माल की खपत के लिए एक उपभोक्ता वर्ग का निर्माण। उपभोक्ता समाज जितना बड़ा होता जाएगा, उद्योग द्वारा पैदा माल की लागत उतनी ही घटती जाएगी। चन्द्रभान के अनुसार भारतीय पूंजीपति सिर्फ उत्पादन पर जोर देते हैं, उपभोक्ता वर्ग पैदा करने पर नहीं। समाजिक न्याय के नाम पर भारतीय उद्योगपति भड़क जाते हैं। निजीकरण से चंद्रभान जी को कोई समस्या नहीं है बशर्ते निजी क्षेत्र की नौकरियों में दलितों के लिए आरक्षण लागू कर दिया जाए। वे अमेरिका के डाइवर्सिटी पॉलिसी का समर्थन करते हुए बताते हैं कि वहाँ की संघीय सरकार ने जब इस नीति पर अमल करना चाहा तो इसके विरोधा में देश भर में दर्जनों मुकदमे हुए।

वहाँ के उद्योगपति भी सरकार के इस नीति पर भड़क उठे। लेकिन अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट ने सरकार के इस नीति के पक्ष में फैसला दिया। आज हालत यह है कि अमेरिका के औद्योगिक घराने डाइवर्सिटी के पक्ष में खड़े हो गए हैं। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि डाइवर्सिटी या विविधाता की नीति का अर्थ यह है कि अल्पसंख्यक, यानी अश्वेत, रेड इंडियन, हिस्पैनिक्स या एशियन मूल के लोगों का जो अनुपात देश की जनसंख्या में है, वही अनुपात नौकरी, उद्योग, बाजार, शिक्षा और मीडिया जैसे हर क्षेत्र में झलकना चाहिए। चंद्रभान प्रसाद के अनुसार डाइवर्सिटी के कारण अमेरिकी अर्थव्यवस्था में अश्वेत आदि समूहों की भागीदारी बड़ी तेजी से बढ़ी है। वहाँ एक नया उपभोक्ता वर्ग पैदा हो गया है जिससे बाजार में तेजी आ गयी। इसका सीधा सा अर्थ है कि अश्वेत अमेरिकियों के खर्च करने की ताकत में इजाफा हुआ है। अब अमेरिका के औद्योगिक समूह और अर्थशास्त्री भी डाइवर्सिटी नीति की वकालत करते हैं। चंद्रभान प्रसाद अमेरिका के डाइवर्सिटी नीति को भारत में अमली जामा पहनाना चाहते हैं। उनका आरोप है कि सन् 2002 में भोपाल में जुटे लगभग ढ़ाई सौ प्रतिनिधि दलित बुद्धिजीवियों ने इस प्रस्ताव पर अपने मोहड़ भी लगाए थे। लेकिन भारत सरकार ने भोपाल प्रस्ताव पर आज तक ध्यान ही नहीं दिया। भारत में भी डाइवर्सिटी नीति को लागू कर दिया जाए तो एक नया उपभोक्ता वर्ग का उभार होगा जो बाज़ार का चेहरा बदल देंगे। भारतीय अर्थव्यवस्था और दलित दोनों को ही इससे फायदा होने की पूरी संभावना उन्होंने व्यक्त की है। वे यह भी कहते हैं कि अमेरिका में आर्थिक सुधारों से पहले सामाजिक सुधारों पर बल दिया गया। लेकिन भारत में सामाजिक सुधारों की बात तक नहीं की गयी और आर्थिक सुधार शुरू कर दिये गये। दलित नेतृत्व की भी आलोचना चंद्रभान प्रसाद करते हैं। क्योंकि दलित नेतृत्व ने डाइवर्सिटी जैसे सिद्धांत को भारत में प्रभावी बनाने के लिए कभी सरकार पर जोर नहीं डाला। भारत में उनके अनुसार उसी कंपनी को विनिवेश का अधिकार मिलना चाहिए जो डाइवर्सिटी के नीति का पालन करें। वह विनिवेश से प्राप्त धान का चौथाई भाग दलितों के शिक्षा पर खर्च करने की मांग सरकार से करते हैं। दलित नेता, सामाजिक कार्यकर्ता, दलित अधिकारियों–कर्मचारियों के संगठन, लेखक आदि का आह्वाहन करते हुए वे इस मुहिम को आगे बढ़ाने की मांग करते हैं जिससे दलित मुक्ति का रास्ता तैयार किया जा सके। भूमंडलीकरण के एक और समर्थक हैं, नरेन्द्र जाधाव जो स्वयं अर्थशास्त्री भी हैं। वे मानते हैं कि भूमंडलीकरण दलितों को अंग्रेजी शिक्षा की तरफ ले जायेगा। पश्चिमी संस्कृति को अपनाने से दलितों में प्रतियोगिता की भावना पैदा होगी। इस प्रकार जाधाव बाज़ार को दलितों के लिए एक ऐसे विकल्प के रूप में देखते हैं जिससे उनका पश्चिमीकरण हो सकता है।

भूमंडलीकरण का विरोधा करने वालों में कुछ ऐसे चिंतक हैं जो मानते हैं कि नई आर्थिक नीति में दलितों की वंचना और ज्यादा बढ़ेगी। गोपाल गुरू ऐसे ही आलोचक हैं जो भूमंडलीकरण को ब्राह्मणवाद की उच्चतम अवस्था मानते हैं। इन्हें उन लोगों से सख्त शिकायत है जो पूँजी के खिलाफ आंदोलन चलाने के बजाय पूँजीपति बनने के लिए आंदोलन चला रहे हैं। ऐसा वे सिर्फ गठजोड़ों की राजनीति करके फौरी फायदों के लिए करते हैं। बाज़ार से थोड़े–बहुत दलितों को लाभ मिल सकता है लेकिन सभी को नहीं। गोपाल गुरू के अनुसार पूँजी के खिलाफ आंदोलन करके उन संरचनाओं को ही नष्ट किया जा सकता है जिससे विषमता और उँच–नीच को बढ़ावा मिलता है। भूमंडलीकरण का समर्थन उनके मुताबिक फुले, अंबेडकर विचारधारा से हटे बिना नहीं किया जा सकता। इसी श्रेणी में डी. आर. नागराज का नाम आता है जो भूमंडलीकरण की आलोचना आर्थिक की बजाए सभ्यतामूलक दायरे में रहकर करते हैं। वे संस्कृति और साहित्य के उपादानों की मदद से दिखाते हैं कि किस तरह भूमंडलीकरण की वजह से हमारी सामुदायकि संस्कृति खतरे में पड़ सकती है। सामुदायिक संसाधनों के नष्ट हो जाने से सबसे बुरा प्रभाव यह होगा कि दलितों के लिए रोजी–रोटी की समस्या और विकट हो जाएगी। नागराज सवाल उठाते हैं कि क्या दलितों को अंग्रेजी माहौल कभी आगे ले जा पायेगा? इसलिए नागराज दलितों को भूमंडलीकरण का विरोध करने की सलाह देते हैं। भूमंडलीकरण का विरोध करने वालों में कुछ अर्थशास्त्रियों का नाम लिया जा सकता है। इनमें एस.के. थोराट, के.एस. चलम और एस. नानछरिया का नाम प्रमुख है। इन्होंने अपने अनुसंधानों के आधार पर दिखाया है कि भूमंडलीकरण में दलितों की हालत और खराब होने वाली है। बाज़ार के वर्चस्व के कारण राज्य की भूमिका कम हो जाएगी। इससे निजीकरण और विनिवेश की प्रक्रिया के चलते दलितों को आरक्षण खत्म होने जैसी समस्या से भी जूझना पड़ सकता है। इसलिए उपरोक्त अर्थशास्त्री भूमंडलीकरण को संदेह की निगाह से देखते हैं।

दलित उभरते हुए रोज़गार के अवसरों में इसलिए भागीदारी नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि उनके पास इसके लिए आवश्यक ज्ञान और कौशल की कमी है। शिक्षा और योग्यता के निम्न स्तर, सामाजिक बहिष्कार, बेरोजगारी और ऋणग्रस्तता जैसे कारक प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण में दलितों को और ज्यादा हाशिये पर ला देगी। कल–कारखानों का निर्माण हो या बांधों का निर्माण, सबसे ज्यादा प्रभावित दलित और आदिवासी तबके के लोग ही होते हैं। विकास के नाम पर ये विस्थापन के शिकार होते हैं। सरकार इनके पुनर्वास और मुआवजे के लिए कोई ठोस कदम भी नहीं उठाती। इस तरह ये लोग मजदूर बनने और बेकारी की समस्या को झेलने के लिए अभिशप्त हो जाते हैं। ''द कमिंग ऑफ पोस्ट–इंडस्ट्रियल सोसाइटी'' नामक पुस्तक में डेनियल बैल ने दिखाया है कि किस प्रकार उत्तर–औद्योगिक समाज में पेशेवर और तकनीक–दक्ष लोगों का वर्चस्व हो जाता है। समाज एक तरह से तकनीक केंद्रित हो जाता है। पूँजी, विज्ञान और तकनीक के मेल ने समाज से गलत परंपराओं को जरूर बेदखल किया है लेकिन पहले से ही सामाजिक बहिष्कार और बेरोजगारी जैसी समस्याओं का दंश झेल रहे दलित, क्या तकनीक केंद्रित युग में अपनी जगह बना पाऐंगे? क्या वे इस प्रतिस्पर्धामूलक समाज में और ज्यादा हाशिये पर धकेल नहीं दिये जाऐंगे? दलितों पर भूमंडलीकरण के प्रभाव के संबंध में रजनी कोठारी लिखते हैं– ''भूमंडलीकरण दलित जातियों के खिलाफ न केवल वर्णाश्रम के दायरे में ब्राह्मणवादी ताकतों का समर्थन करता है वरन् दरिद्रीकरण, अलगाव और अन्याय के संदर्भों में भी उन्हें कोने में धाकेलता जाता है। विश्व और विश्वव्यवस्था जितनी एकीकृत होती जाएगी, दलित सरीखे समुदायों की वंचना उतनी ही बढ़ती चली जाएगी।''[2] अंतर्राष्ट्रीय संरचनाओं के वर्चस्व के कारण राष्ट्र, राज्य का महत्व लगातार कम होता चला जा रहा है। समाज में उनका वर्चस्व होगा जो पेशेवर और तकनीक–दक्ष हैं। ऐसे में लोकतांत्रिाक राज्य का महत्व कम होने से दलितों को गंभीर संकटों का सामना करना पड़ेगा।

आधुनिकता की प्रक्रिया में व्यक्ति को स्वतंत्रता की गारंटी होती है। इसमें व्यक्ति को अपने प्रतिभा के अनुसार कार्य करने का मौका मिलता है। आधुनिकता के तहत व्यक्ति की पहचान अतीत के दायरे में निर्मित न होकर व्यक्ति द्वारा हासिल की गयी कुशलता, कार्यक्षमता आदि सर्वस्वीकृत मूल्यों से तय होती है। इसीलिए यह पहचान धर्म–जाति–सामुदायिकता से निरपेक्ष होती है। यही कारण है कि दलित आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में मुक्ति का रास्ता तलाशते हैं। चंद्रभान प्रसाद पूंजीवाद के संबंध में लिखते हैं– ''पूंजीवाद एक साथ दो काम करता है। एक तो वह सामंतवाद को तोड़ता है और औद्योगिक शहरी सभ्यता का निर्माण करता है। दूसरा, वह सचेत रूप से परंपराओं, पुरानी मूल्य पद्धतियों और सामाजिक कुरीतियों को खत्म करता है। इसी कारण मार्क्सवादी विचार पद्धति में भी सामंतवाद के खिलाफ

पूंजीवाद को क्रांति–कर्त्ता माना जाता है।''[3] संस्कृति में परिवर्तन ने परंपराओं को व्यर्थ कर दिया है। परिणामस्वरूप उपेक्षित जनों ने अपना हक मांगना शुरू कर दिया है। बाबासाहेब अम्बेडकर के मुताबिक गाँव मनुष्य को गुलामी में जकड़ कर रखता है। इसके बनिस्बत शहर में स्वतंत्रता और मुक्ति की गारंटी होती है। इसलिए अम्बेडकर दलितों को शहर जाने की सलाह देते हैं। लेकिन गाँव से शहर गये लोगों को बेहतर मानवीय जीवन की गारंटी देने की बजाय शहर ने आम लोगों को निराश ही किया है। बाबूराव बागुल की कहानी 'जब मैंने अपनी जाति छिपायी थी' शहरी जीवन की पोल खोलती है। नायक रेलवे में नौकरी मिलने के बाद किराए पर मकान पाने के लिए अपनी जाति छिपाता है। उससे जब जाति पूछी जाती है तो गुस्से में आकर वो गरज पड़ता है और अपने आपको देश के लिए समर्पित नागरिक बताता है। उसके इस जवाब से सामने वाला जातिवादी होने के इल्जाम में अपने आपको फँसा पाकर सिटपिटा जाता है। अंत में सच्चाई सामने आते ही उसे जूतों–लाठी की निर्मम मार सहनी पड़ती है। पूँजीवादी विकास ने दलितों को वह नागरिक समाज मुहैया नहीं कराया जिसमें अवसर की समानता हो। गोपाल गुरू अपने लेख 'अवमानना के आयाम' में लिखते हैं कि, ''अवमानना के निराकरण का एक तरीका प्रौद्योगिकीय आधुनिकता भी हो सकती है। जिसके जरिये उत्पीड़क को संयम रखने पर मजबूर किया जा सकता है। अगर भारतीय पूँजीपति वर्ग ने सूत मिलों के कताई विभाग का आधुनिकीकरण कर दिया होता तो उँची जातियों को सूत के अपवित्र होने का बहाना करके दलितों को कताई विभाग से बाहर रखने का मौका न मिलता। प्रौद्योगिकीय आधुनिकता का दूसरा उदाहरण यह है कि अगर राज्य ने शहरों में साफ–सफाई की सुविधाओं का आधुनिकीकरण कर दिया होता तो शहरी आबादी के हाथों सफाई का काम करने वाले दलितों को अपमानित न होना पड़ता।''[4] गोपाल गुरू आगे कहते हैं कि निराकरण का यह तरीका भी पूरी तरह से समस्या को खत्म नहीं कर देता। क्योंकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में दलितों को और ज्यादा बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ सकता है।

गांधी ने दलितों की समस्या पर विचार करते हुए उसे आर्थिक पक्ष से जोड़ा। वे मानते थे कि बिना ग्रामीण भारत का कायाकल्प हुए दलित समस्या का समाधान नहीं हो सकता। दलितों के व्यापक उत्थान के लिए गांधी गाँव के विकास की बात कहते हैं– ''गाँव के कल्याण से जुड़ी किसी भी समस्या का हरिजनों से संबंध आवश्यक है। हरिजन पूरे भारत की जनसंख्या का छठा हिस्सा हैं। अगर किसी गाँव को अच्छा आटा–चावल मिलेगा तो बाकी जनसंख्या की ही तरह हरिजन भी इस बदलाव से लाभान्वित होंगे। लेकिन उनके लाभान्वित होने का विशेष अभिप्राय है। चर्मशोधन और खालों के पूरे काम पर उनका एकाधिकार है। नई योजना में आर्थिक तौर पर इस काम का सबसे ज्यादा हिस्सा रहेगा।''[5] गांधी के उपरोक्त व्याख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने जातिगत मूल्यों पर ध्यान नहीं दिया। दलित अपने जातिगत पेशों से जुड़े रहने के कारण ही नित्यप्रति अवमानना के शिकार होते रहते हैं। ऐसे में जातिगत पेशे से जुड़े रहना उनको सामाजिक मान्यता कभी नहीं दिला पाएगा। ग्रामीण भारत का आदर्श स्थापित करते समय गांधी शायद इन बातों का ध्यान नहीं रख पाये। आज भी गांधीजी की आलोचना इस बात को लेकर होती है कि उन्होंने जातिगत प्रश्नों की अनदेखी की। ग्रामीण भारत की समाज व्यवस्था कितनी घुटन भरी हो सकती है, इसका अंदाजा दलित होकर ही लगाया जा सकता है। छुआछूत की घिनौनी तस्वीर गाँव में जाने पर ही दिख सकती है। दलित महिलाएँ गाँवों में हमेशा ही असुरक्षित रहती हैं। गाँव में दलित मजदूरों से जबरन बेगारी ली जाती है। इसलिए दलित अपनी मुक्ति का रास्ता शहरों में जाकर तलाशते हैं। गाँवों की अपेक्षा शहरों में जाति की समस्या उतनी विकट नहीं है। स्लम की जिंदगी किसी नरक से कम नहीं होती, फिर भी गाँव के सामंती नरक से वह मुक्त हो जाना चाहता है। लेकिन ग्रामीण भारत से चाहते हुए भी दलित अपना संबंध नहीं तोड़ सकते। सारे दलित गाँवों को छोड़कर शहर में आ जायें, ऐसा भी सम्भव नहीं है। यही वजह है कि ग्रामीण भारत के पुनर्निर्माण को लेकर गांधीजी आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। दलित जातियों की जनसंख्या का अधिकांश भाग गाँवों में रहता है, इसलिए ग्रामीण समाज का कायाकल्प सबसे अहम है। आखिर वह कौन–सी सामाजिक परिस्थिति हो सकती है जिसमें दलित सामाजिक समरसता का अनुभव कर सकते हैं? इसके लिए आवश्यक है कि संसाधनों पर सभी का समान हक हो। अवसर की समानता ही काफी नहीं है, अपितु समता के सिद्धांत को ज्यादा तरजीह दिया जाना चाहिए। इसी शर्त पर उन संरचनाओं को नष्ट किया जा सकता है जो शोषण का आधार बनी हुयी है।

संदर्भः

1. One hears "the market is spreading every-where" (taken as a disaster) and "increasing numbers of people are excluded, Proverty is increasing." But the two statements are contradictory. If the market is spreading, this has to mean that purchasing power is in some way expanding. People have to be getting at least enough employment to buy what is coming on to the market. Otherwise, If poverty, unemployment, etc, are really increasing, the expansion of the market will hit limits and stop. – Capitalism and Globalisation: Dalits and Adivasis, Gail Omvedt, Economic and Political Weekly, November 19, 2005, Page 4882.
2. आधुनिकता के आइने में दलित, सं. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ 314–315.
3. डाइवर्सिटी से बनेगा दलित पूँजीवाद, चन्द्रभानु प्रसाद, पृष्ठ 27.
4. आधुनिकता के आइने में दलित, सं. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ 111–112.
5. उद्धृत, आधुनिकता के आइने में दलित, सं. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ 82.